य

सन्त

डा. राज बुद्धिराजा

सौम्य सन्त

महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज
का
संस्मरणात्मक जीवन-चरित्र

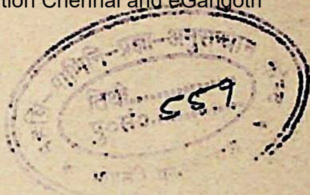




डा० राज बुद्धिराजा

प्रकाशक:—
महात्मा प्रभु आश्रित धर्मार्थ ट्रस्ट
३१, यू० बी०, प्रयाग निकेतन,
जवाहर नगर, दिल्ली—७

मुद्रक :
सम्राट् प्रेस,
पहाड़ी धीरज, देहली



तुम मरे नहीं बस मौन हुए !



प्रकाशक की ओर से

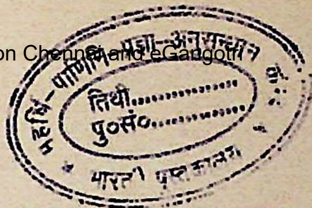
गुरुदेव श्रद्धेय स्वर्गीय महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज का जीवन एक अथाह सागर था। उनके समस्त गुणों का वर्णन करना तो संम्भव नहीं था इस लघुपुस्तिका में लेखिका ने समुद्र को कूजे में बंद करने का प्रयत्न किया है। आशा है आपको उस महान योगी के जीवन चरित्र की झांकी मिल जाएगी। यह जिज्ञासुओं को कुछ भी लाभ पहुंचा सकी तो यह प्रयास सफल होगा।

गणेशदास
शान्ति देवी
महात्मा प्रभुआश्रित धर्मार्थ ट्रस्ट
प्रयाग निकेतन
३१—यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली—७

तिथि २५. २. १९६८



अनुक्रमणिका



आत्माभिव्यक्ति

स्वर्गीय श्रद्धेय गुरुदेव का जीवन एक खुली पुस्तक है जो विभिन्न जिज्ञासुओं द्वारा अपनी इच्छानुसार पढ़ी जा कर कभी-कभी मनन भी की गई। २७ वर्षों के निरन्तर घनिष्ठ संपर्क के परिणाम स्वरूप जितना भी उन्हें समझ सकीं, इस लघु पुस्तिका में उद्धृत करने का प्रयत्न किया है। इस तपःपूत, वंदनीय, महान विभूति की गौरव गाथा का गान करना इस अकिंचन लेखिका के लिये कागज की नाव द्वारा गम्भीर समुद्र पार करना होगा। परन्तु 'भरोसो दृढ़ इन चरनन तेरो' का संबल लेकर गुरुदेव के जीवन के अथाह समुद्र के अन्तराल में से कुछ मुक्ताओं के संकलन का विनम्र प्रयास किया है।

राज बुद्धिराजा

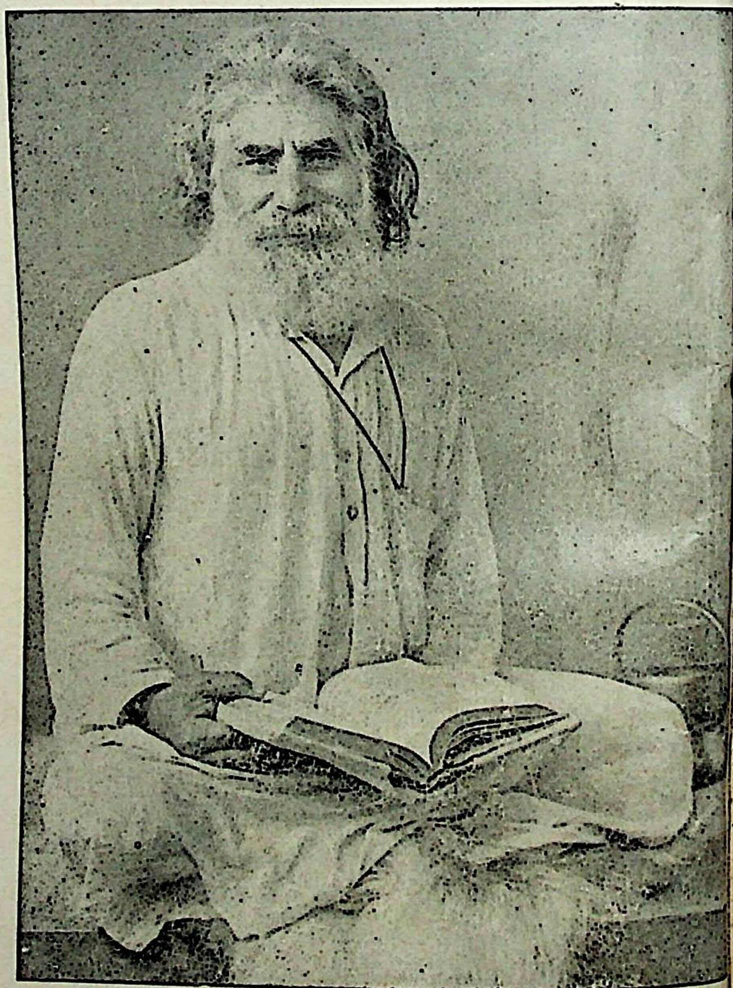
ए—१४, डी० टी० यू० कालोनी,
शादीपुर,
दिल्ली—८





बचपन की धूमिल स्मृतियों को!

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥



महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज

॥ ओ३म् ॥

वंदना

गुरुदेव !

यह कैसी विडम्बना है। जिस आम्र को तुमने अपने स्नेह-जल से सिंचित किया था, उस पर बौर लगने से पहले ही तुम चले गए ! जीवन के घोर सूखे में तुमने आशीष से हरियाली भर दी थी, अब मैं अपने हास्य को लेकर किसके पास दौड़ी चली जाऊंगी ? किस के पैरों पर लोटूंगी ? कौन उठाकर गद्‌गद् हो मीठी वाणी से दिलासा देगा ? कौन अपनी विशाल भुजाओं से उठाकर अपने हृदय से लगाकर आत्म-विभोर होगा ? चाहती थी मेरी कलम का प्रथम पुष्प तुम्हारी पूजा की वस्तु बने ! तुम तो असमय ही स्वर्गीय हो गये !

कम-से-कम इतना तो बताते जाते कि इस अपने—पन के भार को किसके सामने हल्का करूं ? तुम चुपके से आते हो और मुझे सोया देख चुपके से ही चले जाते हो ! मुझे जगाते नहीं, बोलते नहीं और आशीर्वाद भी नहीं देते ! जब दूर से मुझे तुम्हारी आकृति दिखाई देती है, पास पहुँचने से पहले ही तुम शीघ्रता से अन्तर्धान हो जाते हो । घनघोर घटा में बिजली के समान झलक दिखाकर चले जाते हो ।

तुम अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाते-जाते उस पूर्ण पुरुष में तदाकार हो गए ! तुमने देखा कि बादल अपना अहं अगणित बूंदों में, बूंदें अपना अहं जल-धाराओं और नदियों में, नदियाँ अपना अहं समुद्र को देने में तत्पर हैं और यह समुद्र भी हर समय किसी ऐसी शक्ति की खोज कर रहा है जिसके चरणों में वह अपनी सम्पूर्ण जलराशि अर्पित कर रिक्त हो जाए । गुरुदेव ! तुमने भी समुद्र की तरह अपनी अथाह गंभीरता, अपना अहं उस पूर्ण पुरुष के लिए अर्घ्य रूप में अर्पण कर दिया और अब ऊपर बैठकर मुस्करा रहे हो ।

तुमने यह भी देखा कि पृथ्वी अपना अहं अगणित वृक्ष, बेल पौधों में; वृक्ष बेल पौधे अपना अहं अपना सौरभ समीर में मिश्रित करने के लिए छटपटा रहे

हैं । और समीर ! उसका तो कहना ही क्या ! वह भी किसी के आंचल को एक बार लहरा कर उसी में मिल जाना चाहता है । तुमने भी अपना अहं, अपना सौरभ, अपनी सुगन्धि उस अनन्त रमणीय महादेव को अर्पित कर दी । तुमने अपनी ज्योति, अपना ज्ञान, अपना अनुभव उस महज्ज्योति के चरणों में समर्पित कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप तुम भी आरती की वस्तु बन गए हो !

कौन ऐसा व्यक्ति था जिसे तुम्हारे सान्निध्य से शाँति प्राप्त न हुई हो, कौन ऐसा प्राणी होगा जिसके सोये हुए हृदय में, तुम्हारे स्वरों ने सुगबुगाहट उत्पन्न न की हो ! कौन तुम्हारे स्पर्श से कृत्य-कृत्य नहीं हुआ था ! तुम्हारी हृदय-गोद में त्रिकाल और त्रिभुवन सोते रहे, सृष्टि दुधमुँही बच्ची के समान क्रीड़ा करती रही और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचा के ही रह गया, क्योंकि तुम पूर्ण हो चुके थे । गगन के गान, समीरण के हास और साग र के रोदन से भी तुम्हारी तपस्या में कोई व्यवधान नहीं हुआ ।

तप:पूत ! संसार उदर की क्षुधा को ही क्षुधा समझकर गली-गली यही कहता रहा—'भूखे भजन न होहिं गुपाला ।' परन्तु झूठ ! तुमने भूखे रह कर ही

भजन किया, प्यासे रह कर ही गान किया, ऐसा गान जिसने सोई जाति में नए प्राण फूंक कर जगा दिया। दिनकर की भाँति अज्ञानता के कुहरे को चीर कर तुम ने सब जग प्रकाशमय कर दिया। मरुस्थल के कण-कण में स्नेह की अजस्र धरिणी प्रवाहित की। तुम्हारा प्रत्येक स्वर उस पूर्ण पुरुष का प्रतिनिधित्व करता रहा। तुम्हारा जीवन कितना सूक्ष्म है और कितना विशाल ! तुमने पूर्णता प्राप्त करने के लिए साधना का पथ अपनाया। एक-के-बाद एक व्रत करते गए और प्रत्येक व्रत के पश्चात् उषा तुम्हें कहती रही—'नहीं ! अभी और। अभी नूतन गुण ग्रहण करो; और तुम उसके आदेश का पालन करते गए।'

तुम मार्तण्ड की तरह उदय हुए, अपने प्रकाश का भंडार लिये ! तुम अपने अगणित ज्ञान-करों से जीवन भर अवनि और अम्बर-अम्बर के प्राणिमात्र को ज्योतिर्मय बनाने का अनवरत प्रयत्न करते गये; परन्तु अंत में, प्राची के क्षितिज से तुम्हें सुनाई पड़ा—'अभी और लग्न के साथ प्रकाश फैलाओ।' तुमने मौन भाव से इसे स्वीकार कर लिया।

रात्रि के समान तुमने अन्धकार में दीपमाला सजाई, अगणित टिमटिमाते हुए जीवनों में प्रकाश और

शीतलता भरी, परन्तु प्राची का वायु तुमसे मुस्करा कर कहता गया······'नहीं ! तुम अभी पूर्णता से बहुत दूर हो, प्रासाद के निकट आने का प्रयत्न करो !' तुमने एवमस्तु कह दिया।

तुम्हारे अन्तर ने तरु-तरु में नव-पल्लव लगाए, लता-लता को कुसुमित किया। तुम्हारे प्रयत्नों से डाल-डाल फलों से लद गई। तुम्हारी वाणी की अमृत वर्षा ने अनेकों जिज्ञासुओं को मरकत की छवि दे डाली। परन्तु तुम्हें यह अनुभव हुआ कि न जाने कितने तरु इस वसंत में भी पत्रहीन रह गए, कितने फल पकने से पूर्व गिर गए। कई दग्ध-स्थल शीतलता से वंचित रहे। तुम उस पूर्ण पुरुष के चरणों के लिये अपनी भेंट लिये आगे बढ़ते रहे, उसके चरणों में तुमने अपना सब कुछ रख दिया और उसके अधरों पर प्रसन्नता की रेखा दिखाई पड़ी। उसके कर तुम्हें हृदय से लगाने के लिए आतुर हो उठे। उसके कान तुम्हारे गान सुनने के लिये मचल उठे और तुम सहज भाव से अपनी पूजा की वस्तु लिये पूर्णता की ओर बढ़े चले जा रहे थे। भगवान ने तुम्हें इस धरा से उठा कर अपनी गोदी में बिठा लिया और तुम्हें भी पूजा की वस्तु बना दिया !

अब ! मैं तुम्हारी पूजा का अभिनय करूँगी। ओ संत ! तुम्हारा जीवन मेरे लिए स्वप्न हो गया ! और तुम्हारी पूर्णता सत्य हो गई। १६ मार्च १६६७ के एक ही पल में तुम्हारी वसंत श्री शोभा-सुषमा मेरे जीवन को पतझड़ बना गई। मेरा चिर संचित स्वप्न भंग हो गया। उफ़ ! इतने बड़े संसार में मेरे संतोष के लिए एक भी वस्तु नहीं—मैं चीख उठी।

महान् योगी ! तुम अब भी तो आ जाते हो यह देखने कि मेरा पौधा—कहीं सूख तो नहीं गया, सूर्य के ताप के कारण जल तो नहीं गया, आँधी ने कहीं इसे उखाड़ तो नहीं फेंका ! लोग इसे पत्थर तो नहीं मारते। मर्मर के रोदन में, वसंत के हास में, सागर के गर्जन में मुझे तुम्हारी ही वाणी सुनाई देती है। मैं तुम्हारा कितना धन्यवाद करूँ ! कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं, नमन है, केवल नमन ! मैं तुम्हारा मनः नमन करती हूँ।

तुम कहाँ मिलोगे ?
ढूंढ रही मैं।

गगन ने कहा—'मुझ में ढूंढो उसका शब्द मिलेगा'।
'और गंध यहाँ, बोली धरती, 'हृदय सुमन खिलेगा'॥

'रस है मुझ में' बोला पानी, 'आकर प्यास बुझाओ' ।
अग्नि बोली, 'तेज है मुझ में, आओ ज्योति पाओ' ।।
और बोल पड़ा पवन अकड़कर, 'स्नेह स्पर्श यहाँ है' ।
इस पावन भू के कण-कण पर तू व्याप्त हुआ है ।।

राज बुद्धिराजा



महान् विभूति

शरीर और आत्मा, हृदय और मस्तिष्क, आचार-विचार, रीति–व्यवहार, खान–पान, वेशभूषा आदि अन्तर्बहि उपादानों का एक आदर्श व्यक्तित्व। सरलता, विनम्रता, स्पष्टवादिता, मातृभक्ति, गुरुभक्ति, साधना तथा तपस्याओं का सर्वाधिक लाक्षणिक समायोजन ही गुरुदेव का व्यक्तित्व है। इनमें से कोई एक गुण अलग से उनके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सकता, जिस प्रकार आँख, कान, नाक, मुँह, हाथ पैर आदि में से किसी एक को हम शरीर नहीं कह सकते। 'प्रभु आश्रित' जी के जीवन में उनके अंतर और बाह्य का अभूतपूर्व सामंजस्य दिखाई देता है। इस महान् विभूति का चित्र हृदय पर स्वत: ही खिंच जाता है। हृदय

की सरसता, संचितज्ञान, तपस्या, साधना और योग ने ऐसी महान विभूति का निर्माण किया जिसने साधना और आलोक का मार्ग प्रशस्त किया।

महात्मा प्रभु आश्रित जी तप से परे और सिद्धियों से आगे थे। वे भारत के ऐसे दीपक थे जो बुझने के पश्चात् भी मानव मात्र का पथ आलोकित कर गए। वे अपनी स्मृति की छाप प्रत्येक प्रियजन और परिजन पर लगा गए। जहाँ से उनकी आवाज़ आती, हज़ारों कान उधर हो जाते थे; जिधर से गुज़रते थे लाखों आंखें उनकी ओर अपलक निहारती थीं। जिस भूमि पर उनके पांव पड़ते वह धन्य हो उठती और रोली बन मस्तक पर सुशोभित होती। जिस घर में पदार्पण करते वह घर स्वर्ग हो जाता, जीवन बदल जाते! क्यों?

इस तपःपूत ने केवल तीन अक्षर के छोटे से नाम 'ओ३म्' की उंगली पकड़ रखी थी, पर यह कहना भी अनुचित न होगा कि स्वयं ओ३म् ने इनकी उँगली पकड़ रखी थी। ये 'भूः' थे अपने लिए भी और अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के लिये भी। 'भूः' कहते हैं धरा को, जिसका कार्य है दूसरों के अवगुणों, गंदगी को ढांपना और बदले में नव विकसित सुगंधित पुष्प और स्वच्छ फल देना तथा इससे भी आगे जाकर हीरे, मोतियों,

रत्नों और जवाहिरातों का भंडार लुटाना। इसी स्वर्गादपि भूमि पर नाना प्रकार की नदियाँ कल-कल स्वर में गाती हैं, अनंतों झरनों का अपना नर्तन होता है। इसी भूमि पर आकाश से बातें करने वाले, दृढ़, अटल उच्च शिखर हैं जो हिमाच्छादित होने पर भी अपनी मुस्कान की आभा बिखेरते हैं। इनके अगणित शिष्य थे जो अपनी-अपनी व्यक्तिगत, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक समस्याएँ इनके सामने ले जाते थे और गुरुदेव कभी हँस कर और कभी गम्भीरता से इन समस्याओं का समाधान किया करते थे। सबके अवगुणों को जानते थे और 'भू:' बन कर उन पर पर्दा डाल देते थे। उस समय ये वास्तव में वात्सल्यमयी मां के रूप में दृष्टिगत होते थे। शंका समाधान के पश्चात् ये सभी के हृदय में भक्ति का बीज बो देते थे जो अवसरानुकूल अंकुरित, पुष्पित और पल्लवित हो जाया करते थे। तप्त जीवन में शीतलता और मधुरता छा जाती थी। जो भी इनके दर्शन करता उसकी तृप्ति हो जाती थी, मनः तुष्टि हो जाती थी। जनता इनके दर्शन करने इसलिए नहीं जाती थी कि गुरुदेव प्रसन्न होंगे, दर्शन मात्र से ही उसे आनन्द की प्राप्ति हो जाती थी। ये रत्नों के अक्षय कोष थे। इन्हें समाधि अवस्था में अमूल्य अगणित ज्ञान

राशि के रत्न प्राप्त होते, जिन्हें समय-समय पर पुस्तकाकार में अथवा प्रवचन के रूप में सब को बांट दिया करते। इनके मुखारविंद से ज्ञानराशि की अनंत नदियाँ और झरने फूट कर समस्त घटों को जलमय कर देते थे। इनके विचार हिमालय की तरह अटल और उच्च थे और इस उच्चता में भी स्वच्छता, स्पष्टता थी, पथ के झाड़ झंखाड़ नहीं। १९५० में गुरुदेव दानापुर से पटना जा रहे थे, मेरे माता-पिता तथा मैं भी इनके साथ थे। गाड़ी छूटने वाली थी, फर्स्ट क्लास का डिब्बा सामने आया और हम उसी में चढ़ गए। अगले स्टेशन पर उतरते ही गुरुदेव ने कहा "थर्ड क्लास के और टिकट खरीद कर लाओ, ताकि सरकार को घाटा न हो।" उसी समय तुरन्त ही टिकट आ गए। पलक मारते ही उन्होंने टिकटों को टुकड़े-टुकड़े कर दिया और बोले—"हाँ। यही इनका स्थान था। थोड़े मूल्य में हमने उससे अधिक सुविधा ली थी।" इनके पहाड़ से जीवन में कहीं भी रोड़े-पत्थर, झाड़-झंकाड़ नहीं थे। ये हिमगिरि थे जो शीतलता के साथ-साथ स्वच्छता और अटलता भी प्रदान करता है। किसी प्रकार का भी शारीरिक कष्ट क्यों न हो, वेदना इनके चेहरे पर कभी भी नहीं उभरती थी। १९६५ में उत्तर

काशी में इनके कंधे पर चोट लगी । डाक्टरों ने चलना फिरना तो दूर बोलने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था। मेरे स्वास्थ्य के विषय में पूछने पर वे चिरपरिचित मुस्कान बिखेर कर बोले--"बेटी ! मैं बिल्कुल ठीक हूँ। भगवान यह देखना चाहता है कि मैं किस सीमा तक कष्ट सहन कर सकता हूँ।"

गुरुदेव के पास जो भी जाता, संतापों से मुक्ति पाने के लिए। न केवल वे मानसिक दुःखों को दूर करने का साधन बताते थे बल्कि शारीरिक व्याधियाँ भी उनकी मुस्कान से दूर भाग जाती थीं। किसी भी रोगी को वे देखने जाते तो कमरे में उनकी सहज उत्साह वर्धक आवाज सुनाई पड़ती। "अरे ! अभी तक तुम चारपाई पर पड़े हो। तुम्हें तो कुछ भी नहीं है।" और चुटकी बजाकर कहते, 'तुम यूं ही ठीक हो जाओगे।' रोग उनकी आवाज सुन डरने लगता और अंतमें अपना बोरिया बिस्तर बाँध-कर चला जाता। यदि रोगी की गम्भीर स्थिति होती तो वे उसकी चारपाई पर बैठकर, अपनी अनंत साधना के बल से जाप और धाराओं द्वारा उसका दुःख दूर करते। रोगी की स्थिति में उस समय तो आश्चर्यजनक परि-वर्तन होता ही, उनके जाने के पश्चात् भी वह स्वास्थ्य की ओर प्रगति करता दिखाई पड़ता। ये अपनी प्रत्येक

इन्द्रिय, मन, बुद्धि, और प्राणों से सुख की बौछार किया करते थे, इनके सम्पर्क से सुख तो मिलता ही था, व्यक्ति विशेष की सुविधाओं का ये विशेष ध्यान रखते। चाहे निर्धन हो या धनी, बच्चा हो या बूढ़ा, स्त्री हो या पुरुष; जो भी इनके पास जाता उसकी सुख-सुविधाओं का भार वे अपने ऊपर ले लेते। उनके सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति यही कहता—"महात्मा जी की मुझ पर महान् कृपा है।' १९६४ में जब मैं एम. ए. की परीक्षा देने के लिए रोहतक गई तो इन्होंने मेरी सुविधाओं का विशेष ध्यान रखा। मेरी रुचि का भोजन तैयार कराया जिसमें पापड़, अचार और चटनी भी सम्मिलित थे। दिन में कई बार मेरे कमरे में आकर पूछते—'कोई तकलीफ तो नहीं है।' लगातार पंद्रह दिन रहने के पश्चात्-जब मैं दिल्ली के लिए रवाना हुई, अस्वस्थ होते हुए भी इन्होंने एक हाथ में मेरी अटैची उठाई और दूसरे में लाठी लेकर कहने लगे, 'चलो तुम्हें बस में बिठा आऊं।' और लाख मना करने पर भी वे मुझे बस में बिठाने गए। मैं आर्द्र होकर केवल इतना ही कह सकी, गुरुदेव !' वे मेरे भावों को समझते हुए बोले- 'बेटी ! बच्चों का सम्मान यदि माता-पिता नहीं करेंगे तो और कौन करेगा ?' उनका रोम-रोम सब को सुख

पहुंचाया करता था। वे प्राय: कहा करते—'यदि किसी को सुख देने के लिए तुम्हारे पास और कुछ भी नहीं है, मुस्कराहट तो है; उसी को उंडेल दो। अपनी मीठी वाणी से उसका ताप हर लो।'

सरलता तो जैसे इनमें व्याप्त हो चुकी थी। ये भोले थे, शिव की तरह। इनका भोलापन बच्चों को भी पीछे छोड़ चुका था। १९६५ में देहरादून में इन्हें लिवाने के लिए गई। प्रातः प्रणाम करने पर बोले,—'देखो बेटी! यदि किराये की टैक्सी है तो मैं नहीं चलूँगा, अपनी गाड़ी है तो चलूँगा।' मैं उनकी स्पष्टता और दृढ़ निश्चय से भली-भाँति परिचित थी। वे तो सब्जी और फल भी उसी की स्वीकार करते जिसके घर की खेती हो। मैं उस समय बड़े धर्म संकट में पड़ी। अपनी आत्मा के विरुद्ध झूठ मैं बोल नहीं सकती थी, बिना उन्हें लिवाये खाली लौटना भी मुझे खल रहा था? मैं दबी आवाज़ से बोली—'महाराज किराये की टैक्सी तो नहीं कार है।' वे शब्द-जाल में नहीं पड़े और झटपट चलने के लिए तैयार हो गए। मुझे तो जैसे प्राण मिल गए हों। दिल्ली पहुंचने तक उन्हें यह मालूम नहीं हुआ कि यह गाड़ी किराये की थी। बाद में जब उन्हें वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो गद्गद् हो बोले—"मैं तो अब तक

तुम्हें मासूम बच्ची ही समझता था, युक्ति से ऐसी उलझन को सुलझा सकोगी, मुझे मालूम नहीं था।" प्रत्येक व्यक्ति पर वे बालबुद्धि की तरह विश्वास कर लेते।

भाषण-कला इनके व्यक्तित्व का एक अंग थी! ये निरंतर एक घंटे से डेढ़ घंटे तक धाराप्रवाह बोल सकते थे। हज़ारों की उपस्थिति होने पर भी क्या मजा़ल कि उस बीच किसी बच्चे की आवाज भी सुनाई दे। श्रोता मंत्र-मुग्ध होकर टकटकी बाँध इन्हें देखता रहता और सुनता रहता। इसके साथ ही ये मस्तमौला भी थे। महापुरुषों के प्रेरणा करने पर ही ये प्रवचन करते। कभी कभी दर्शकों को निराशा होती जब ये यज्ञ-वेदि पर दृढ़ता से कहते कि महापुरुषों का आदेश नहीं हुआ।

एक संत की तरह इन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण हो अपनाया। हिन्दू हो या सिख, मुसलमान हो या शूद्र प्रत्येक व्यक्ति अपने अवगुणों का त्याग करने पर इनका कृपापात्र बन जाता! इनका सिद्धान्त या प्रवचन किसी बंधी परिपाटी के अंतर्गत न होता, किसी व्यक्ति विशेष पर लागू नहीं होता, बल्कि वह तो मानवमात्र, प्राणिमात्र के लिए ही था। अन्य आर्यसमाजियों की तरह ये जाति विवाद में नहीं पड़े। प्रत्येक जाति का मानव इनका अपना था। १९४४ के अन्त में गुरुदेव ने टोबाटेकसिंह में पौने तीन वर्ष के लिये अदर्शन तथा मौन व्रत रखा।

इधर व्रत की पूर्णता के दिन निकट थे और उधर हिन्दू मुस्लिम दंगे भी जोरों पर थे। मुसलमान सिक्खों के खास दुश्मन थे। कुछ सिक्ख भाई जान बचाने के लिए इनकी कुटिया में आ गए। गुरुदेव ने अपने सेवक को आदेश दे दिया था कि वह इनकी देखभाल अच्छी तरह करे। कुछ दिनों के पश्चात् जब मुसलमानों को पता लगा तो उन्होंने उन भाईयों की हत्या तो कर ही दी गुरुदेव पर भी लाठी प्रहार तथा गोली चलाते गए।

यह एक ऐसी महान् विभूति थी जिसने अपने नाम को सार्थक किया। ये वास्तव में प्रभुआश्रित थे। एक लंबा कुरता, कमंडल और कपड़े के जूते तथा एक झोला यही इस संत की सांसारिक सम्पति थी। जब तक एक कपड़ा फट न जाता दूसरा कभी न पहनते, चाहे कोई कितना ही एड़ी चोटी का जोर क्यों न लगा ले। रुपयां पैसा पास रखना तो एक तरफ, घड़ी खो जाने पर इन्होंने दूसरी घड़ी नहीं ली और वर्षों तक प्रभु पर विश्वास कर कार्य चलाते रहे। समय की पाबन्दी इनका प्रमुख गुण था! यदि कोई व्यक्ति श्रद्धापूर्वक इनके पास फल ले जाता तो लेने से इनकार कर देते। बहुत कहने पर भी इनका उत्तर होता—'मुझ पर भार मत चढ़ाओ'। ये केवल नाम से ही नहीं बल्कि जीवन की विविध क्रियाओं से वास्तव रूप में प्रभुआश्रित थे।

*

कुशल विद्यार्थी

यद्यपि इनका जीवन सरलता की अनेक परतों में छिपा हुआ था; परन्तु बाल्यकाल से ही इनकी प्रतिभा होनहार बिरवान के समान दीखने लगी थी । बालक टेका को भक्ति के संस्कार अपनी माता समाईबाई से मिले और नानी के साहचर्य से वयस के साथ-साथ पल्लवित और पुष्पित होते गए । बाल्यकाल से ही इनकी बुद्धि कुशाग्र थी । छोटी आयु में संस्कृत और फारसी के पांडित्यपूर्ण प्रदर्शन के कारण ये कक्षा में सदैव अध्यापक के कृपापात्र रहते । इनका कक्षा में सर्वप्रथम स्थान स्कूल में चर्चा का विषय रहता ही, साथ ही इनकी नम्रता ने मानो सोने पर सुहागे का कार्य कर दिया था । योग्यता, और शिक्षा प्राप्त करने की उत्कट इच्छा थी परन्तु पैसा पास नहीं । परन्तु वाह रे विधाता ! वह इस उज्ज्वल

नक्षत्र की परीक्षा लिए चला जा रहा था। लक्ष्मी और सरस्वती के विरोधाभास के चक्कर में इस बालक को ही पिसना पड़ा। विद्यार्थी जीवन की सामान्य सुविधाएं मिलना तो एक तरफ। भोजन किए भी इस बालक को कई कई दिन बीत जाते। मीलों नंगे पांव पैदल जाकर यह बालक स्कूल में पहुंच पाता। जलती तपती रेत और कड़ाके की सर्दी ने भी इस बालक के नियमित रूप से स्कूल जाने में कभी व्यवधान नहीं आने दिया। आठवीं की परीक्षा, शुल्क के नाम पर फूटी कौड़ी भी पास नहीं। संभवत: उस समय के अध्यापकों में दया नाम की वस्तु नहीं होती होगी क्योंकि इस प्रतिभावान् विद्यार्थी को किसी से भी सहायता नहीं मिली। यद्यपि अध्यापक इस मेधावी बालक की भूरि-भूरि प्रशंसा करते परन्तु आर्थिक सहायता देने के लिए वे भी मौन साध लेते। अंत में किसी व्यक्ति ने इसे सहायता देने का वचन दिया। परन्तु आप कल्पना भी नहीं कर सकेंगे कि इस सहायता के प्रतिदान में इस मूक नन्हे 'टेके' को क्या देना पड़ा। महीने की पहली तारीख को इस बालक को कचहरी के द्वार पर खड़ा कर दिया जाता और प्रत्येक अभियुक्त से एक-एक पैसा देने के लिए अपील की जाती। और जब चौंसठ पैसे हो जाते तो उसे जाने के लिए कहा जाता।

यह उसकी निर्धनता की खिल्ली उड़ाने के लिए काफी था। नन्हा बच्चा खून का घूंट पीकर रह जाता। यह क्रम लगभग छः मास तक चलता रहा। एक बार थोड़ा सा आटा लेने के बदले इस को एक व्यक्ति के घर महीनों चौका बर्तन करना पड़ा, पानी भरना पड़ा और कपड़े धोने पड़े। कोल्हू के बैल की तरह जुते रहने पर भी उसे खाने के नाम पर सूखा टुकड़ा या खिचड़ी मिलती। एक बार खिचड़ी न खाने पर जो व्यङ्ग्य ताने सुनने पड़े तब से इसने जीवन पर्यन्त खिचड़ी बड़े चाव से खाई। उस महाशय और नन्हे बालक दोनों का दिल मानों पत्थर का था। एक क्रूरता से घाव करता रहा, ठोकरें मारता रहा और दूसरा धरती के समान सहन करता रहा। दोनों में जैसे होड़ लगी हुई थी। इसी घाव के दर्द ने बालक के लिए दवा का काम भी किया, वैराग्य के संस्कारों की दृढ़ता से पुष्टि हुई। दर्द और दवा को एक साथ पीने का अभ्यास गुरुदेव को बचपन से ही हो गया था। विष पीकर बदले में अमृत देना इस बालक का गुण बन गया था। बी. ए. करने की बलवती इच्छा धनाभाव से दबती गई और इनकी शिक्षा वास्तविक रूप में पनपती गई। इसी शिक्षा ने गुरुदेव को पूर्णरूपेण आच्छादित कर लिया। इस प्रकार

इस तपःपूत ने धन के अभाव में शिक्षा और विद्या दोनों प्राप्त कीं। इसके परिणाम स्वरूप वैराग्य की भावना इतनी बलवती हो गई कि पारिवारिक आकर्षण का मधु इनकी प्यास के मुकाबिले बहुत कम रहा। किसे पता था कि दौलतराम का यह निर्धन बालक 'टेका' भविष्य में लाखों मनुष्यों का पथप्रदर्शक बनेगा। आंख खुलते ही जिस बालक के सिर से पिता का साया उठ गया, किसे मालूम था कि एक व्यक्ति की दौलत पर सारा समाज अपने को लुटा देगा।



योग्य शिष्य

हज़ारों मनुष्यों का पथप्रदर्शक होते हुए भी यह व्यक्ति सही मानों में योग्य शिष्य था। यह अपने संपर्क में आने वाले व्यक्तियों, परिजनों और प्रियजनों के गुण ही देखता था और मन ही मन उस व्यक्ति विशेष को गुरु समझने लगता था। प्रकृति के कण कण से, लता गुल्म से, नदियों की कल-कल से, सिंधु की गर्जन से तथा शिशु की किलकारी से यह व्यक्ति सदा सर्वत्र शिक्षा ग्रहण करता रहा। मानवीय प्रकृति तो जैसे उनके लिए संदेशवाहक ही रही। प्रत्येक साधु महात्मा और विद्वान् के सम्मुख इनकी विनम्रता देखने योग्य होती। चाहे इनके परि-चित होते या अपरिचित। स्वामी कृष्णानन्द जी और स्वामी योगेश्वरानन्द जी सरस्वती से इन्हें बलवती प्रेरणा मिली। पत्नी के देहावसान के पश्चात् ये आसन तथा

प्राणायाम की शिक्षा लेने के लिए स्वामी कृष्णानंद जी के पासगए। परीक्षार्थ स्वामी जी कठिन से कठिन साधना करवाते, व्रत रखवाते और कभी-कभी अल्पाहार पर रहने के लिए कहते। तृण पत्रों की कुटी में रहकर मक्खियों और मच्छरों के समूह में साधना करके, इन्होंने गुरु की आज्ञा पालन की और एकलव्य की तरह उस शिक्षा और योग को जीवन में धारण करते गए। यूँ तो ये स्वामी जी के प्रति सदैव नतमस्तक रहते, परन्तु इनकी गुरुभक्ति उस समय देखने योग्य होती, जब स्वामी जी इनके पास आकर ठहरते। प्रातः उठकर साष्टांग दंडवत, प्रणाम तो इनका नियम था ही। इसके साथ ही स्नान करते तो गुरुदेव को कराने के पश्चात्, खाना खाते तो उन्हें खिलाने के बाद, सोते तो गुरुजी को सुला कर। इन्होंने अपना तन मन ही इन्हें अर्पण कर दिया था, धन तो ये पहले से ही त्याग चुके थे। स्वामीजी भी इनसे इतने प्रसन्न रहते कि बार-बार इन्हें अपने मठ की गद्दी देने के लिए कहते और गुरुदेव विनम्रता से अस्वीकार कर देते। अपने योग्य शिष्य की मृत्यु पर स्वामीजी रुंधे गले से केवल इतना ही कह सके–'मेरा एक ऐसा शिष्य चला गया है जो वास्तव में महात्मा था' कभी-कभी स्वामी जी इन पर रोष प्रकट करते तो ये शिव की तरह

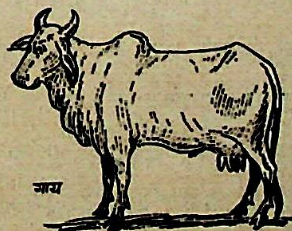
भोले बन कर मुस्कराते रहते। इनके जीवन का सबसे बड़ा गुण था गुरु के प्रति आत्मसमर्पण। उनके कृपा पात्र बनने के लिए उन्होंने अनेकों कष्ट सहे। १५ वर्ष की बात होगी। ये स्वामी जी के पास गए। वृद्ध शरीर और अस्वस्थता के होते हुए भी मन में श्रद्धा लिए ये आगे ही बढ़ते रहे। रास्ते में कई बार गिरते गिरते बचे। अन्त में लुढ़कते हुये उनकी कुटिया पर पहुंचे। रात्रि का समय था। वहाँ और साथियों ने खाना खाया, न तो साथियों ने और न स्वामी जी ने ही इनसे पूछा! एक थकान, दूसरी भूख! भला नींद कहाँ से आए? वे मुस्कराकर केवल इतना ही कह सके—"मेरा भोग नहीं होगा?"

१९५२ में ये स्वर्गीय पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के पास संस्कृत का अध्ययन करने के लिए वाराणसी गए। अपनी आयु को भूलकर ये दिन-रात अष्टाध्यायी रटा करते, और पूर्ण तैयारी करके कक्षा में जाते। जिज्ञासु जी प्रतिदिन तीन बार क्लास लेते। गुरुदेव कक्षा में जाते समय और आते समय उन्हें प्रणाम करते। बार-बार मना करने पर भी उनका उत्तर होता—'बिना झुके विद्यार्थी को विद्या नहीं आती'। जो कुछ भी इन्होंने वाराणसी में अध्ययन किया उसी को दृढ़ करते रहे। यह एक

ऐसा शिष्य था जिस पर सभी गुरु अपना-अपना स्नेह लुटाते थे।

स्वामी योगेश्वरानन्द जी सरस्वती ने योग-विद्या सिखाई थी। वे इनकी सरलता और विनम्रता पर इतने मुग्ध हो गए थे कि वे सदैव इन्हें अपने पास ठहराने की कोशिश करत और उनके संपर्क में अपना गौरव समझते। अपने शिष्य की निरंतर प्रगतिशीलता ने इन्हें इतना प्रभावित किया कि वे चाहते थे कि प्रभु आश्रित जी मैदानी धरातल को छोड़ पहाड़ों की कंदराओं में रहें। और इस आज्ञाकारी शिष्य ने गुरु का आदेश शिरोधार्य किया और पांच वर्ष के लिए उत्तर काशी चले गए। कड़ी साधना के पश्चात् इन्हें आदेश हुआ तुम सुन्दरपुर की मिट्टी में मिल जाओ। परन्तु दूसरी ओर गुरु के नाराज़ होने का डर था। एक तरफ़ महापुरुषों (अंतरात्मा) की आवाज थी दूसरी ओर गुरु आज्ञा। अतः जब ये उत्तर काशी छोड़ मैदान की ओर आ रहे थे तो गंगा के किनारे पैर फिसलने पर गिर गए और कंधे पर बुरी तरह से चोट लगी। जब मैं इनके पास देहरादून गई, तो मेरी हैरानी को देखकर बोले—'यह गुरु आज्ञा की अवज्ञा का फल है।' रोहतक आने पर भी ये सदैव गुरुदेव की अप्रसन्नता के विषय में बात करते रहते।

जीवन की अन्तिम सांस तक भी ये गुरुदेव को याद करते रहे। १५ मार्च की संध्या तक ये बार-बार घड़ी देखकर उनके पत्र और संदेश की प्रतीक्षा करते रहे। जब व्याकुलता अन्तिम पराकाष्ठा पर पहुँच गई तो वे दुःखी होकर बोले—'लोकनाथ अभी तक नहीं आया।' इन लोगों को क्या पता था कि कल क्या होगा। भगवान् भक्त के वश में हो जाते हैं और योगीराज इनकी सरलता से इनके वश में हो गए थे। इनके निधन पर योगीराज जी आर्द्र होकर मुझसे बोले—"बेटी ! प्रभु-आश्रित जी के जाने से हमें बहुत दुःख हुआ है। हम संन्यासी होकर आंसू नहीं बहा सकते। यद्यपि वे हमें गुरु मानते थे, परन्तु वास्तव में वे महान् योगी थे।"



गायत्री उपासक
तथा
यज्ञ-प्रचारक

महर्षि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट यज्ञपद्धति को इन्होंने विस्तार दिया। हजारों यज्ञ स्वयं किए और लाखों कराए। यात्रा में हों या घर में, अस्वस्थ हों या स्वस्थ इन्होंने यज्ञ में कभी नागा नहीं किया। यदि और कुछ पास में न होता तो केवल जल या समिधा से ही यज्ञ करते। जब कभी इन्होंने कार्य-व्यवहार प्रारम्भ किया तो अपने साथी से उसी समय कह देते कि प्रातः मैं हवन और सायं संध्या के लिए समय अवश्य निकालूँगा। अपने सुपुत्र बृहस्पति की रुग्णावस्था में भी ये निरतंर यज्ञ करते रहे। उसके शरीर छोड़ने पर भी इन्होंने अविचल,



१९४१ में कोटअद्दू में हुए यज्ञ के अवसर पर सामूहिक चित्र

शांत और मौन रह कर यज्ञ किया। निष्ठावान याज्ञिक होने के कारण ये गाँव-गाँव पूजे जाते। यज्ञ को इन्होंने केवल वायु शुद्धि का ही कारण नहीं माना, बल्कि स्वर्ग का हेतु माना। अंतःकरण की शुद्धि का अमूल्य साधन माना। कभी यज्ञ से अकाल के दिनों में वर्षा लाने का सफल प्रयास किया तो कभी यज्ञ के द्वारा यक्षमा और चेचक आदि रोगों को दूर किया। 'यज्ञ रहस्य' में यज्ञ की महिमा का गान किया गया है। इन्होंने यज्ञ को क्रियात्मक रूप प्रदान किया और परिणाम स्वरूप इनका प्रत्येक कार्य, एवम् जीवन ही यज्ञमय हो गया। यज्ञ के प्रत्येक मंत्र को इन्होंने परखा, समझा और अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उसकी व्याख्या की। प्रत्येक शब्द-शब्द को उधेड़ कर उसके तीनों रूपों को जाना। यही कारण था कि उनके द्वारा किए गए मंत्रों के अर्थ 'हवन मंत्रों की पुस्तक में दिए गए अर्थों से बहुत भिन्नता लिए होते। जब भी वे यज्ञ पर प्रवचन करते तो वह एक नवीन उद्भावना लिए होता। अपने जीवन में यज्ञ पर उन्होंने सैंकड़ों प्रवचन किए होंगे और एक प्रवचन दूसरे से भिन्न होता। एक शोधार्थी बन उन्होंने यज्ञ-पद्धति का सूक्ष्म और नवीन शैली से निरीक्षण किया, छान-बीन की और अन्त में यज्ञ अपनी सम्पूर्ण शक्तियों सहित उनमें प्रवेश कर गया।

उनका कहना था कि यह अन्नसंकट, अतिवृष्टि और अनावृष्टि, ओले, तूफान और बाढ़ यज्ञ के अपमान के परिणाम स्वरूप हैं।

प्रचारक के साथ–साथ वे सुधारक भी थे। यज्ञ में पूर्णरूपेण लीन होकर ही इन्होंने यज्ञ का प्रचार किया। उनके संपर्क में जो भी आता उससे वे दैनिक यज्ञ करने की प्रतिज्ञा करवा लेते। यज्ञ में शुद्धता और पवित्रता की ओर इनकी विशेष दृष्टि रहती थी। यज्ञ वेदि, यज्ञ कुंड, यज्ञ पात्र, सामग्री तथा समिधा की स्वच्छता की ओर ध्यान देने के साथ-साथ याज्ञिक की शुद्धि की ओर भी इनका विशेष ध्यान रहता था। यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आत्म-शुद्धता सबसे प्रमुख होती। कोई भी व्यक्ति तामसिक आहार (अंडा, मांस, मदिरा, तंबाकू) सेवन नहीं कर सकता था। न केवल उन दिनों के लिए ही बल्कि सदा-सर्वदा के लिए सब व्यसनों को छोड़ना आवश्यक हो जाता।

इनके यज्ञ की दूसरी विशेषता थी याज्ञिकों के शुद्ध पीले वस्त्र, नर-नारियों को पीली धोती-कुर्ता पहनना आवश्यक होता। आहार, वस्त्र परिधान में सादगी के अतिरिक्त व्रतियों के लिए मौनव्रत भी आवश्यक होता। इनकी कुटिया में जो व्यक्ति यज्ञ में शामिल होने के

लिए आता या तो वह कठिन साधना को देखकर भाग जाता और या कुन्दन होकर निकलता। इस प्रकार जितने भी व्यक्ति इनके यज्ञ में सम्मिलित हुए, सभी ने इसी साधना को महत्व दिया—कभी वे फीकी सब्जी खाते तो कभी केवल दलिया। कोई भी व्यक्ति यदि संतान कामना को लेकर इनके पास आता तो उससे पुत्रेष्टि यज्ञ करवाते। परन्तु साथ ही उसके भविष्य को भी देखते। बहुतों को पुत्र-प्राप्ति हुई। परन्तु जिसका भविष्य इन्हें अन्धकारमय लगता उसे झूठा प्रलोभन भी न देते। वे कटु सत्यको कहते भी कभी नहीं हिचकिचाए, चाहे कितना भी प्रियजन क्यों न हो।

गायत्री को इन्होंने यज्ञ का प्राण माना। स्वयं गायत्री के एक-एक शब्द को समझा, अंतर में ग्रहण किया और अपने संपर्क में आने वाले व्यक्तियों से भी कराया। व्यक्तिगत, पारिवारिक, आर्थिक, आधि-दैविक और आधिभौतिक दु:खों के निवारण का उपाय केवल २४ अक्षरों के छंद गायत्री को ही बताया। यज्ञ की प्रतिज्ञा के साथ-साथ ये गायत्री की प्रतिज्ञा भी कराते। आज इनके हज़ारों शिष्य गायत्री का प्रतिदिन जप करते हैं।

जब लोग चारों ओर से निराश हो जाते तो इन्हीं के पास जाते। और गुरुदेव फूट-फूटकर, रोकर गायत्री जाप करने को कहते। किसी को सवा लाख अनुष्ठान करने को कहते तो किसी को सवा करोड़ का। इस प्रकार उन सब लोगों की समस्याएँ जाप से सुलझ जातीं। विवाह तथा परीक्षा के अवसर पर तो यह जाप एक अचूक औषधि बनता।

इस प्रकार गुरुदेव ने अपनी भौतिक प्रतिभा, अनोखी सूझबूझ और सूक्ष्म दृष्टि से यज्ञ और गायत्री दोनों की विशेष खोज की। परिणाम स्वरूप हजारों व्यक्ति उनकी पद्धति के अनुयायी बन गए। पिछले दस वर्षों से तो उनका श्वास-श्वास ओ३म् नाम की माला बन चुका था। जितने वे श्वास लेते उतना ही (२४६००) जाप होता उनके अंतर और वाह्य में यज्ञ और गायत्री का अभूतपूर्व सामंजस्य था। इसी समन्वित से प्रत्येक निराश मानस में आकर्षण, आलोक, विश्वासी दृष्टि का फैलाव हो गया था।

***

महान् लेखक

गुरुदेव संत और योगी के साथ-साथ महान् लेखक भी थे। जैसी और जितनी दिव्यानुभूतियाँ उन्हें समाधि में प्राप्त हुईं, सरल भाषा में उनका प्रकटीकरण कर दिया। इनकी लिखी लगभग चांच दर्जन पुस्तकें उपलब्ध हैं। यज्ञ हो या योग, भक्ति हो या ज्ञान, उपासना हो या गायत्री, कर्म भोग चक्र हो या आत्मबल, वानप्रस्थ हो या गृहस्थ सभी विषयों पर इनकी लेखनी धारा प्रवाह रूप में चली है। सरलता तथा स्पष्टता इनकी भाषा शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इनकी रचनाएँ माला के दानों की तरह हैं, उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। कभी-कभी ऐसा भी मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न पुष्पों को एक ही स्थान पर एकत्र कर दिया गया हो, जिनकी सुगन्ध

भिन्न-भिन्न प्रकार की होते हुए भी एक हो । संश्लिष्ट होते हुए भी इन कृतियों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

१—उपासना विषयक

गायत्री रहस्य
ईश्वर का स्वरूप
मंत्रयोग (चार भाग)
उत्तर काशी का प्रसाद
गंगा मय्या का प्रसाद
सन्ध्या सोपान
गायत्री कुसुमांजलि
नवरात्रा तथा प्रार्थना ।

२—ज्ञान विषयक

पथ प्रदर्शक
बिखरे सुमन
अमृत के तीन घूंट
दुर्लभ वस्तु
अनमोल मोती
विचार विचित्र
रचना रहस्य
रचना चरित्र

मनोबल
अन्तर्ज्योति
आध्यात्मिक अनुभूतियां
अनुभूति मणि माला
निराकार साकार पूजा
निर्गुण सगुण उपासना
सप्त सरोवर
यौगिक तरंगें
सृष्टि का सौन्दर्य
सदाचार साधन
सप्तरत्न, तथा
डरो वह बड़ा जबर्दस्त है।

३—कर्म विषयक

कर्म भोग चक्र
यज्ञ रहस्य (दो भाग)
जीवन सुधार
दृष्टांत मुक्तावली
युक्त योगी गुरु
स्वप्न गुरु
सेवा धर्म

अद्भुत किरण
चमकते अंगारे
जीवन यज्ञ
अब जागो
संभलो, तथा सावधान

४—योग विषयक

योग युक्ति
जीवन यज्ञ
यज्ञमय जीवन
अनमोल मोती
जीवन उत्थान के साधन

५—गृहस्थ विषयक

वर घर की खोज
गृहस्थ आश्रम प्रवेशिका
गृहस्थ सुधार
आदर्श गृहस्थी
भाग्यवान गृहस्थी, तथा
पृथ्वी का स्वर्ग

६—राष्ट्र विषयक

यज्ञ और जादूगरनी गौ, तथा
राष्ट्र रक्षा के आधार।

उपासना विषयक

जीवन के प्रथम चरण में गुरुदेव ने गायत्री मंत्र को सिद्ध किया और इन्हीं सिद्धियों की अंजलि भर कर गायत्री कुसुमांजलि के रूप में पाठकों को दी। गायत्री से आयु, प्राण, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति होती है, ऐसा उन्होंने सोदाहरण अपनी पुस्तकों में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। गंगा मय्या के किनारे वृक्षों की शीतल छांह में बैठ कर उन्होंने प्रभु के स्वरूप को समझा और उसी को लोक कथाओं के आधार पर समझाने का महान् प्रयत्न किया। दादी नानी की कहानियों में उन्होंने जो रहस्य पाया उसे प्रभु के स्वरूप में प्रखर रूप प्रदान किया। गंगा सदैव कल-कल स्वर में बहती रहती है परन्तु उसके तट बदल जाते हैं। गुरुदेव के ज्ञान की अजस्र धारा सदैव द्रुत गति से बहती रही, भले ही तट बदल गये हों, स्थान बदल गये हों, लोग बदल गये हों। "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्" से इन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, वह अपने पास न रखकर उसे समष्टि में वितरित कर दिया। जीवन के अन्तिम दस वर्षों में उन्होंने मंत्र की साधना की। मंत्र के प्रत्येक शब्द-शब्द, वर्ण-वर्ण को सिद्ध किया और इसी के द्वारा योग में प्रवेश किया। 'मंत्रयोग' में मंत्र

ज्ञान की अनेक विधियाँ बताई हैं जो समाज, समय, योग्यता और अधिकार के अनुसार हैं। संध्या सोपान में तो नाटकीय और रोचक शैली में संध्या का महत्व प्रतिपादित करते हुए अपनी खोज को नवीन दृष्टिकोण के रूप में प्रस्तुत किया। नवरात्रों के दिनों में वे विशेष व्रत किया करते थे और उन व्रतों की उपलब्धि को 'नवरात्रा' में प्रकट किया। इस प्रकार गुरुदेव ने उपासना के परिणाम स्वरूप जो कुछ भी अर्जित किया, उसे केवल अपनी ही संपत्ति नहीं समझा, दानी बनकर समष्टि में वितरित कर दिया।

ज्ञान विषयक

ज्ञान विषयक पुस्तकों में शंकर की अद्वैत भावना दृष्टिगोचर होती है। संसार की नश्वरता नाना प्रकार की व्याधियों से बचने के उपाय इन्हीं पुस्तकों में बताए गए हैं। माया के आवरण से जीव आच्छादित है आवरण हट जाने पर ही उसका प्रभु से मिलन होता है। बादलों के आ जाने से सूर्य का प्रकाश थोड़ी देर के लिए तो अवश्य छिप जाता है, परन्तु उसका सर्वथा लोप नहीं होता। बादल के हट जाने पर प्रकाश फिर से दिखाई देने लगता है। आवश्यकता तो इस अंधकार को दूर करने की है। 'पथ प्रदर्शक' इनकी पहली पुस्तक

है जिसमें भगवान को गली-गली, पर्वत की गहराइयों में; वृक्षों की छाँह में, नदियों की कल-कल में, सागर के अंतराल में, व्याप्त आकाश में, अनेकों मन्दिरों में ढूँढने का प्रयत्न करते हैं और अंत में उसे प्राप्त कर लेते हैं। उसकी ज्योति का एक ही कण उन्हें रास्ता सुझा देता है जो हजारों लोगों के लिए पथ-प्रदर्शक बना। इसमें ईश्वर की विभिन्न प्रकार की उपासना के साथ-साथ व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को रोचक और प्रभावपूर्ण शैली में सुलझाया गया है। बिन्दु-बिन्दु के ये विचार अथाह समुद्र बन गए हैं। मनुष्य जन्म हीरे के समान दुर्लभ है। हीरा टूट जाने पर कौड़ी का भी नहीं रहता। इसी प्रकार मनुष्य के एक बार भी पतित हो जाने पर उस की कीमत कौड़ी हो जाती है। धन और वैभव में मदांध व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाने के लिये गुरुदेव ने 'डरो वह बड़ा जबरदस्त है' लिखी। इसके कशाघात से वास्तव में ही मानव जाग जाता है। किसी को शारीरिक बल का अभिमान है तो किसी को वैभव संपत्ति का, कोई कोठी को देखकर इठलाता है तो कोई बुद्धि-बल पर, किसी को परिवार का आधार है तो किसी को विद्या का। परन्तु ये सब बल अस्थायी हैं। इससे भी महान् और सशक्त शक्ति है

जिसका सब पर अधिकार है। अभिमानी मनुष्यों को चेतना प्रदान कराना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है। पता नहीं इस शिव का तीसरा नेत्र कब खुल जाए और उसके तांडवनृत्य में सभी सांसारिक बल कब चकनाचूर हो जाए। इस प्रकार माया के अंधकार को छिन्न-भिन्न करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है जिसका इन ज्ञान विषयक पुस्तकों में वर्णन किया गया है।

कर्म विषयक

कर्म विषयक रचनाओं में 'कर्मभोगचक्र' ने अपने अन्तराल में कर्म-दर्शन को छिपाया हुआ है। कर्म जैसे गम्भीर विषय को सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। जाति, आयु और भोग के प्रारब्ध कर्मों के अनुसार मानव सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश विद्या-धन और आयु प्राप्त करता है। प्रारब्ध के अनुसार उसका वर्तमान बनता है। उससे कभी भी और कहीं भी हेर-फेर नहीं किया जा सकता। परन्तु मानव अपने शुभ कर्मों द्वारा दुःख को सुखद अनुभूति में बदल सकता है। प्रारब्ध के अनुसार उसे दुःख तो मिलेगा ही परन्तु दुःख सहने की क्षमता भी मिल जाएगी। यज्ञ को गुरुदेव ने श्रेष्ठतम कर्म माना है, जिसका विस्तृत वर्णन यज्ञरहस्य में मिलता है। यज्ञ लोक और परलोक दोनों को सुधारता

है। याज्ञिक को धन, वैभव और अतुल ऐश्वर्य की प्राप्ति तो होती ही है वह असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु के भय से हटाकर अमृत की ओर भी ले जाता है। हवन तो इस विशाल यज्ञ का प्रतीक मात्र है। जब मानव भौतिक यज्ञ करते-करते परिपक्व हो जाता है तो प्रत्येक कार्य स्वार्थ रहित हो जाता है और स्वार्थ रहित कार्य ही यज्ञ है। इसके अतिरिक्त यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि यज्ञ भयानक रोगों की अचूक औषधि भी है। चेचक और राजयक्ष्मा जैसे भयानक रोग इससे दूर हो जाते हैं। इस प्रकार गुरुदेव ने कर्म विषयक पुस्तकों में यज्ञ को ही श्रेष्ठतम कर्म सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

गृहस्थ विषयक

गुरुदेव ने गृहस्थ आश्रम को चारों आश्रमों से श्रेष्ठ माना। इसी को सुदृढ़, सुखी और सशक्त बनाने के लिए कुछ पुस्तकें लिखीं। 'गृहस्थाश्रम प्रवेशिका' में माँ द्वारा विवाह से पूर्व कन्या को शिक्षा दी गई है। उन कटु सत्यों की ओर भी संकेत किया गया है जिनमें से प्रायः कन्या को विवाह के पश्चात् गुजरना पड़ता है। 'गृहस्थ सुधार' में 'गृहस्थाश्रम प्रवेशिका' की संतोष अपनी पारिवारिक सुख समृद्धि और शांति को पराकाष्ठा पर पहुंचाती हुई इसी

जन्म में ही मुक्ति प्राप्त कर लेती है। परिवार में पिता-पुत्र, सास-बहू सभी रहते हैं, और सभी अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं। आपको आश्चर्य होगा कि इस पुस्तक के प्रमुख पात्र श्री ज्ञानप्रकाश अब से तीन जन्म पूर्व के गुरुदेव ही हैं। इस प्रकार दोनों पुस्तकें गृहस्थियों की सुख-सुविधा के लिए नींव का कार्य करती हैं। वैभव और समृद्धि के अतिरिक्त गुरुदेव उस गृहस्थी को आदर्श और भाग्यवान समझते थे, साधु महात्मा जिसका घर ढूंढते हुए आते हों। ऐसा उन्होंने 'आदर्शगृहस्थी' और 'भाग्यवान गृहस्थी' लघु पुस्तिकाओं में लिखा है। जैसा कि मैं अन्यत्र स्पष्ट कर चुकी हूँ कि गुरुदेव के साथ मेरा संबंध पिछले २७ वर्षों से था इसलिए मुझे उनसे पिता, माँ और गुरु तीनों का स्नेह मिला। यों तो उनका आशीष सदा मेरे साथ रहता परन्तु मेरे विवाह के समय उन्होंने आशीर्वाद स्वरूप एक पुस्तक लिखी जो 'वर घर की खोज' नाम से बहुत प्रसिद्ध हुई। यह एक ऐसे पिता की कहानी है जो करोड़पति होते हुए भी अपनी कन्या का हाथ एक निर्धन परन्तु सुशिक्षित वर के हाथ में सौंप देता है। 'वर घर की खोज' में सज्जनता को प्रमुखता दी गई है धन को नहीं। 'पृथ्वी का स्वर्ग' नामक पुस्तक मेरे अनुज प्रिय "दर्शन" के विवाह के उपलक्ष्य में

गुरुदेव ने लिखी। इसमें एक गृहस्थी के सुख वैभव यश के दिग्दर्शन कराने के साथ-साथ वास्तविक सुख, संतोष और सेवा में बताया गया है।

राष्ट्र विषयक

यूं तो यह महान् योगी अपने अन्तर में ही लीन रहा करता था, परन्तु राष्ट्र की गतिविधियों से वे अपने को अलग नहीं रख सके। जब गो-वध-निषेध आंदोलन चल रहा था तो इन्होंने 'यज्ञ और जादूगरनी गौ' लिख कर उस आंदोलन में अभूतपूर्व योगदान दिया। इसमें उन्होंने अपने समस्त शिष्यों और जनता से अपील की कि वे चमड़े की बनी वस्तुएं—जूते, अटैची, पर्स तथा घड़ी की चेन इत्यादि को सर्वथा त्याग दें। परिणाम-स्वरूप हजारों व्यक्तियों ने आदेश का पालन किया और इन वस्तुओं का सर्वदा के लिए बहिष्कार कर दिया। गाय को उपयोगी पशु बताते हुए कहा कि लोगों को घर में गाय बाँधनी चाहिए। इसी प्रकार भारत पर चीन के आक्रमण के समय भी इन्होंने एक लघु पुस्तिका लिखी जिसमें इन्होंने बच्चों को राष्ट्रीय एकता और रक्षा का आधार माना है। इस लघु पुस्तिका का कथानक मेरी बिटिया 'सुनीता' की स्व० नेहरू से समय-समय पर की गई भेंट पर आधारित है। वे उसकी वार्तालाप के ढंग

से इतने प्रभावित हुए थे कि गद्गद् हो मुझसे बोले—मैं इस पर एक पुस्तिका लिखूंगा। और वह एक सप्ताह के भीतर ही बनकर तैयार हो गई है।

इस प्रकार इस महान् लेखक की कलम प्रायः सभी विषयों पर समान रूप से चली। सभी कठिन तथा दुरूह विषयों को सरलता और स्पष्टता से उन्होंने रूपात्मक आधार प्रदान किया है।



दो नारियों का योग दान—
मां तथा पत्नी

मिट्टी का दीपक कुचले जाने पर टूट जाता है, उसका तेल बिखर जाता है, प्रकाश तो एक तरफ बाती जल भी नहीं सकती। यह महात्मा ऐसा दीप था जो संघर्षों और विपत्तियों के कारण टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। टूक-टूक होने पर भी जीवन में स्नेह-तेल सुरक्षित रहा, बाती की लौ काँपते हुये भी दूर-दूर तक पहुँची। बालक 'टेका' को प्रभु आश्रित बनाने में उन दो नारियों को नहीं भुलाया जा सकता जो छाया की तरह इनके साथ-साथ रहीं। वे हैं उनकी सती साध्वी मां और धर्मपरायणा पत्नी। मां समाई बाई को क्या पता था कि ज़िला मुज़फ़्फ़रगढ़ की तहसील अलीपुर के जतोई

ग्राम में जन्म लेने वाला बालक नक्षत्र बन आकाश में चमकेगा। इस उज्ज्वल नक्षत्र को चमकाने में माँ और पत्नी दोनों ने अपने-अपने स्वार्थ की आहुति दे दी थी। सास-बहू दोनों दूध और पानी की तरह मिली रहतीं। ये वेतन अपनी मां के हाथ में देते और माँ अपनी बहू के हाथ में। इस प्रकार यह छोटा-सा परिवार कर्त्तव्य-निष्ठा की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। निर्धनता में होते हुये उन्होंने अपना जीवन-यापन संतुलित दृष्टिकोण से किया। प्रत्येक माँ की इच्छा होती है कि उसका बेटा 'दूधों नहाये और पूतों फले'। परन्तु माँ समाई बाई की अंत तक यही इच्छा रही कि उसका पुत्र भक्त और फकीर बने। सांसारिक माताओं से भिन्न उसका आशीर्वाद होता—'मेरा साधु पुत्र! मेरा फकीर पुत्र! तेरी भक्ति कायम हो'। बचपन में ही इस बालक को ऐसे संस्कार मिले जिन्होंने इसे महान् योगी बना दिया। बड़े होने पर उन्होंने जो व्रत अनुष्ठान किए सब माँ का आशीर्वाद लेकर ही। इन व्रतों में माँ ही प्रेरणा स्रोत बनी रही, वह कभी इनके रास्ते में बाधक नहीं बनी बल्कि दुर्गम पथ में पुष्प बिखेरने का ही कार्य किया। १९४३ में उन्होंने पौने तीन वर्ष का अदर्शन और मौन व्रत रखना था। लोग एक बारगी इस लम्बी

अवधि की जुदाई के लिए चिंतित हो उठे और उन्होंने माँ से कहने की सोची ताकि माँ इन्हें आज्ञा न दें। परन्तु इससे पूर्व गुरुदेव माँ के पास जाकर कह चुके थे—माँ ! मैंने हजार दिन का व्रत रखना है, मुझे आशीर्वाद दो। माँ ने मुस्कराते हुये कहा—'क्यों न रखो'। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। भगवान् तुम्हारी रक्षा करेंगे। जब कुछ व्यक्तियों ने माँ से कहा कि 'यह तुमनें क्या किया इतनी लम्बी अवधि तक तुम बेटे से कैसे अलग रह सकोगी' ? माँ ने कहा कि 'मैंने तो आज्ञा देदी है।' उसे इस बात का ज्ञान नहीं था कि एक हज़ार दिन में पौने तीन वर्ष होते हैं। बेटे की जुदाई से दुःखी तो हुई लेकिन अब क्या हो सकता था। आज्ञा तो वह दे ही चुकी थी। स्थिर होकर माँ ने केवल इतना ही कहा—'मैं आज्ञा दे चुकी हूँ अब कुछ नहीं हो सकता। इतना अवश्य हो सकता है कि मैं उसके व्रत रखने से पूर्व अपना शरीर छोड़ दूं।' इतना सुनने पर सभी अवाक् रह गए। और सचमुच ही माँ ने गुरुदेव के व्रत रखने से एक सप्ताह पूर्व ही अपना शरीर छोड़ दिया।

संघर्षशीला मां का सारा जीवन ही कष्टों और विपदाओं में बीता। इनकी सहनशक्ति और मितव्ययता को देखकर तो पीड़ा ने जीवन भर इनका साथ कभी नहीं

छोड़ा। उसने इसी साध्वी को देख लेने के बाद और किसी को नहीं देखा, वह रात-दिन मां को ही देखती रही। युवावस्था में पति की षड्यन्त्र से मृत्यु ने इस साध्वी पर वज्रपात कर दिया था। पड़ौसी के रिपोर्ट लिखाने पर वात्सल्यमयी माँ दोषी के बाल-बच्चों की असहायता की कल्पना कर सिहर उठी और उसने थाने में झूठ बोल दिया कि इसके पति अपने आप ही गिर कर स्वर्ग सिधार गए हैं। एक तरफ पति की मृत्यु का बदला लेने की भावना थी और दूसरी ओर अपराधी की भय-मिश्रित आँखें। झूठ बोलने पर माँ को दोपहर की कड़कती धूप में अपने नन्हें डेढ़ वर्ष के बच्चे के साथ बैठना पड़ा। उस निर्दयी हाकिम को जरा भी दया नहीं आई। बार-बार वास्तविकता पूछी गई परन्तु माँ का वही उत्तर होता। सूर्य के जलते ताप को नन्हा नहीं सह सका दूध और पानी के लिए बिलख बिलख कर उसने माँ की गोदी में हिचकी ले ली। कितना स्नेह और साहस था इस माँ में। पति की मृत्यु तो हो ही चुकी थी, वास्तविक अपराधी को छुड़ाने के लिए भूख और धूप से तड़पते हुए बालक की मृत्यु भी हो गई। जैसा कि मैं अन्यत्र कह चुकी हूँ कि लक्ष्मी और सरस्वती का इस घर में सदैव से ही विरोध था। युवावस्था में पति की मृत्यु के पश्चात् इस अश्रु स्नान नारी

को छोटे-छोटे बच्चों का पालन पोषण करना पड़ा। निर्धनता ने इस नारी की कमर तोड़ दी थी। तो भी जाने का नाम न लेती। ये सब बातें ऐसी थीं जो बड़ी से बड़ी चट्टान को भी हिला सकती थीं। परन्तु वाह री माँ! इसकी सहनशक्ति को देखकर धरती नें भी दुःख सहने की क्षमता तज दी थी। जब सारा जग सो रहा होता तो यह अश्रुस्नान नारी दीपक की टिमटिमाती लौ में चक्की पीसती और खाने की व्यवस्था करती। कभी-कभी तो ब्राह्मणी से दो पैसे की सेर रोटियाँ लेकर बालकों की क्षुधा निवृत्त करती। प्राय: ऐसी स्थिति रहती कि बर्तन रीता होता। नयनों में पानीं भर यह भगवान से प्रार्थना करती कि ये बच्चे खेल में लग जायें और रोटी भूल जायें। और होता भी ऐसा ही। सारे दिन बच्चे खेलते रहते और माँ की चिन्ता कम होती कि चलो एक समय का खाना तो बचा। कभी-कभी बच्चे मालपूड़े खाने की जिद करते तो माँ चावलों का पुआ तवे पर तैयार कर कहती—"लो ये बड़े मालपुए खाओ छोटे नहीं" और बच्चे प्रसन्नता से खाते। संकट की पाठशाला में पढ़ कर माँ को वह सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हो गई थी जो बहुत कम को मिलती है।

माँ का बहुत बड़ा गुण सरलता था जिसने गुरुदेव

के जीवन में अमली जामा पहना। अनजाने में यदि कोई भूल हो जाती तो सहज रूप से उसे स्वीकार कर लेती और भविष्य में वैसा न करने की प्रतिज्ञा करती। एक बार गुरुदेव टोबा टेकसिंह में यज्ञ करा रहे थे। माँ भी उन दिनों वहीं थी। एक दिन वह टहलते-टहलते बगीचे के उस क्षेत्र में जा पहुँची जहाँ मूलियाँ उग रही थीं। उसने सहज भाव से मूली का पत्ता तोड़ा और मुँह में डाल लिया। सामने से गुरुदेव आ रहे थे, बोले—"माँ! तुमने यह क्या किया? यह स्थान आश्रम का है। तुमने बगैर आज्ञा लिए मूली का पत्ता तोड़ कर पाप किया है।" वास्तव में माँ को अपनी इस भूल पर गहरा क्षोभ हुआ। उसने मुँह में उंगली डालकर जब तक वह पत्ता बाहर नहीं निकाला उसे चैन नहीं पड़ी और भविष्य के लिए यह नियम बना लिया कि बिना आज्ञा किसी भी चीज को नहीं छूना।

इस प्रकार गुरुदेव को इस साध्वी माँ ने एक महान् योगी बना दिया। उसके आशीर्वाद ने ही कई बार गंभीर समस्याओं को सुलझाया। माँ का आशीर्वाद ही गुरुदेव की संपदा थी। उनकी प्रत्येक पुण्यतिथि पर गुरुदेव स्वयं यज्ञ करते और अपने बच्चों से भी यज्ञ कराते। इस अवसर पर उनके सैकड़ों शिष्य भी उपस्थित होते।

प्रार्थना के समय गुरुदेव अपनी माँ की ममता, स्नेह, साधना, तपस्या, सरलता और आशीर्वाद को याद कर फूट-फूट कर रोते। यदि माँ ने उन्हें ऐसी आशीर्वाद न दी होती तो संभवत: वे भी और पाँच भाई बहिनों की तरह भौतिकता की ओर अग्रसर होते। उनकी याद हर दिल में न होकर मरुस्थल में केवल एक रेखा सी बन जाती जो आँधी तूफान आने पर मिट जाती है।

कौन मानव ऐसी माँ पाकर धन्य नहीं होगा जिसने जीवन के कड़वे आँसू स्वयं घोल कर पिये हों और अपने संपर्क में आने वालों को अमृत की अजस्र सारणि दी हो। आज भी माँ का धुँधला सा चित्र मेरी बचपन की स्मृति में वर्तमान है और बार बार उसकी सरलता का बिम्ब मानस चक्षुओं के सम्मुख साकार हो उठता है। गेहुँआ रंग, पाँच फुट का वृद्ध शरीर, धीमे कदमों में सुदृढ़ता, बारीक और तेज आवाज़ और स्नेह स्पर्श सब कुछ जैसे आज का ही लगता है।

पत्नी

'महाशय' से "प्रभुआश्रित" तक पहुंचने का मार्ग कठिनाइयों से भरा हुआ था। उनकी पत्नी ने न केवल करुणा से गुरुदेव का मार्ग प्रशस्त किया बल्कि उनके अवसादों, अभिशापों को स्वयं झेला, वरदानों से

उनके कंटकाकीर्ण मार्ग में पुष्पों की सुगन्धि बिखेरी। संयुक्त परिवार में सारा दिन चूल्हा चक्की में जुटी रहने पर भी पति से कभी शिकायत न करती। छोटे-छोटे बच्चों का पालन-पोषण उन्होंने बड़ी मितव्ययता से किया। परिवार के किसी भी सदस्य को उन्होंने शिकायत का मौका नहीं दिया। वास्तव में ही यह नारी पतिव्रता थी। जो कुछ भी गुरुदेव कहते वह मौन भाव से तथास्तु कह देती। सदैव पति सेवा में तत्पर रहती। उनके धैर्य और साहस की उपमा तो बेजोड़ थी। किसी भी प्रकार की समस्या आती तो बड़े धैर्य से सुलझातीं। पारिवारिक जीवन में प्रत्येक कार्य इन्होंने युक्ति से किया। १९७६ वि० में एक कन्या को जन्म देकर ये देवी स्वर्ग सिधार गईं। गर्भावस्था में उन्हें रात को कम दिखाई देता था। पानी का मटका साथ पड़ा रहने पर भी उन्हें दिखाई नहीं देता था। गुरुदेव कई बार उठकर पानी देते। जिसने जीवन भर पति की सेवा की हो वह यह कैसे सहन कर सकती थी कि पति उसकी सेवा करे। वह बहुत दुःखी हो उठती थी और बार-बार मृत्यु को याद करती। बार-बार गुरुदेव से पानी लेने पर उस साहसी को लगता जैसे पापों का घड़ा भरता चला जा रहा है। वे रो-रो कर कहती—"अब मैं नहीं बचूंगी क्योंकि पति की

सेवा करने की बजाय मैं उनसे सेवा लेती हूँ। यह बड़ा भारी पाप है। मेरे अन्दर से आवाज आती है कि तुम नहीं बचोगी।"

गुरुदेव जी उन्हें बार-बार सान्त्वना देते, परन्तु उसे तो निश्चय हो चुका था कि वह पापमय जीवन में अधिक देर तक नहीं रह सकती। रुग्णावस्था में कन्या को जन्म दिया जो तीन दिन बाद संसार से चली गई और उसकी मृत्यु के पश्चात् इस देवी ने भी जैसे जाने की ठान ली हो। अन्तिम समय उसे संतोष था कि वह सुहागिन होकर जा रही है उसका अन्तिम वाक्य गायत्री मंत्र और जप जी की प्रथम पौड़ी थी।

इस प्रकार इन दोनों नारियों ने इनके जीवन को महान् बनाने में योग दान दिया उसका उदाहरण इतिहास में बहुत कम मिलता है।



योगी

योग प्रभुआश्रित जी के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग था। जीवन के अंतिम १० वर्षों में इन्होंने योग की साधना स्वयं भी की और अपने संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को भी कराई। उन्होंने एक-एक कदम फूंक-फूंक कर रखा और सफलता प्राप्त की। इनकी प्रारंभिक यौगिक क्रिया हठयोग पर आधारित थी। आसन और प्राणायाम को परिपक्व करने के पश्चात् आप योग, ध्यान और समाधि की ओर मुड़े। प्रत्येक समस्या पर ध्यान में विचार करते और तत्पश्चात् अपने कार्यक्रम के विषय में निर्णय लेते। महापुरुषों की आज्ञानुसार ही ये कार्य करते। अपने वचन पर ये इतने दृढ़ रहते कि कोई भी इन्हें अपने मत से नहीं डिगा सकता था। इनका हमेशा उत्तर होता—महापुरुषों का ऐसा आदेश

है। 'प्रभुआश्रित' नाम इन्होंने महापुरुषों के आदेश पर ही रखा था। लोगों की आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान ये ध्यान में देख कर ही करते। इन्हें जो भी आवाज आती सत्यता उस व्यक्ति विशेष पर प्रकट कर देते, चाहे बुरा क्यों न लगे। १९५४में मेरे पिता जी ने ग्लास फैक्ट्री खोलने के समय इनसे राय ली। इन्होंने ध्यान में देखकर कहा—"वैसे तो मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है परन्तु महापुरुषों का आदेश नहीं हुआ।" मैं जब भी अपनी समस्याएं लेकर इनके पास जाती तो ये झट महापुरुषों की आज्ञा सुना देते।

ये सरल योगी थे। जब भी ये समाधि में बैठते तो प्राय: विषधर सांप भी इनके पास आकर बैठ जाते और इनकी समाधि खुलने पर चले जाते। इनके हृदय से हिंसा और भय निकल चुका था। ये शिव थे प्राणीमात्र के लिए! रोहतक में मैंने कई बार देखा है जब गुरुदेव समाधि में होते तो मोर इनके इर्द-गिर्द एकत्रित होकर नाचा करते और जैसे ही इनकी आंख खुलने की देरी होती और वे चले जाते।

वे एक ऐसे सिद्ध पुरुष थे जो इस जन्म के साथ-साथ अपने पिछले जन्मों की जानकारी भी रखते थे।

वे प्रायः इस विषय में मौन ही रहते परन्तु अंतरंग व्यक्तियों के बार-बार पूछने पर वे कहा करते थे—मैं भी किसी जन्म में राजा था और रुपयों की मुट्ठियां भर भर कर दान किया करता था। अधिक दान से मन में अहंकार आया और दूसरा जन्म ऐसे गरीब के रूप में हुआ जिसका कार्य साधु-संतों की सेवा करना और उन की भूठन खाना था। वे प्रायः भगवान राम और भगवान कृष्ण की आत्माओं के विषय में चर्चा किया करते। जब कभी गुरु नानक देव की आत्मा के विषय में पूछा जाता तो इनके तेजस्वी मस्तक पर एक अलौकिक आभा बिखर जाती, होंठों पर भिन्न प्रकार की मुस्कराहट खिल उठती। बार-बार पूछने पर ये कहते—'जानते नहीं, उनकी आत्मा तो ब्रह्मलोक में बैठी है! इस प्रकार और भी अनेक जन्मों का संबंध उन्होंने मेरे पैतृक परिवार के साथ बताया। २७ वर्ष की अवधि में जितना स्नेह मैंने उनसे पाया वह शायद ही किसी और से मिला हो। किसी विशेष बात के लिए आशीर्वाद लेने जाती तो गद्गद् हो, पीठ थपथपाकर बोलते—'मेरा आशीर्वाद तो हमेशा तुम्हारे साथ है, न मांगने पर भी तुम्हें मिलेगा। पता नहीं तुम एक दिन क्या बनोगी; मेरा दिल कहता है कि एक दिन तुम उच्च

स्थान प्राप्त करोगी'। यूं तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनके पास आशीर्वाद होता लेकिन मेरे लिए एक विशेष अपनत्व की भावना होती।। मैं आश्चर्य चकित हो उन्हें अपलक निहारती और वे सहज स्वर में बोलते—इस जन्म में तो मेरा तुम्हारे साथ दूसरे जन्म का संबंध है। १९३० में अफ्रीका में तुम पैदा हुई थी और १९३५ई० में तुम्हारी मृत्यु हुई थी और मैं भी उस समय अफ्रीका में था। तुम्हारी मधुर वाणी और गीता पाठ से मैं बहुत प्रभावित हुआ था और तुम्हारे जाने से मुझे गहरा सदमा पहुँचा था। फिर तुम १९३७ में भारत में पैदा हुई। इसलिए तुम्हें इस जन्म में वेद विषयक ज्ञान है।

इतना ही नहीं गुरुदेव को अपने शरीर छोड़ने का भी पूर्ण ज्ञान था। यही बात वे शान्ति जी से भी कहा करते थे परन्तु इस सच्चे योगी की मनोभावना को किसी ने नहीं समझा। अपनी मृत्यु से दो मास पूर्व जब वे यज्ञभवन दिल्ली में खाना खाने के पश्चात् टहल रहे थे तो उनके नेत्रों में आश्चर्य जनक चमक थी। श्रीमती रामप्यारी जी (बुआ जी) के पूछने पर बोले—'मैं तो

एक जन्म और चाहता हूँ परन्तु भगवान् तुम्हारी मर्जी।' बुआ जी विदाई की कल्पना कर बोलीं—'हमारा क्या होगा।' तो बात टालते हुए बोले—'तुम तो पगली (गाली) हो।' इसके एक मास पश्चात् जब माता जी (शान्ति) उनसे मिलने रोहतक गईं तो अपनी आदत के अनुसार चुटकी बजा कर बोले—"अब तो मैं थोड़े दिनों का मेहमान हूँ।" उन्हीं दिनों ये नित्य प्रति सायं अपने प्राणों को ब्रह्मरंध्र तक ले जाने का अभ्यास करते और उस समय उनका मुख मंडल विचित्र तेज से जगमगाता। मृत्यु से तीन दिन पूर्व ही इन्होंने कहना आरम्भ कर दिया था कि 'मेरा पानी का भोग समाप्त है, गंध का आभास मुझे नहीं होता और भोजन का भोग भी समाप्त होने वाला है'। १५ मार्च की शाम को वे कह रहे थे कि मेरा भोग बिल्कुल समाप्त हो चुका है और मैं जाने ही वाला हूँ। परन्तु डाक्टरों ने उनकी बात को हंसी में टाल दिया। उसी रात्रि को ये शांति जी से बोले—"लो, मेरा यह आसन आचार्य जी (स्वामी विज्ञानानंद) को दे आओ।" कुछ दिन पूर्व

उन्होंने अपने गुरुदेव के लिए संदेश भेजा था जिसके उत्तर की प्रतीक्षा वे बार-बार घड़ी देख कर करते रहे। जब पत्र तथा कोई संदेश नहीं आया तो थक कर बोले– "कब पता नहीं क्या होगा ? अभी तक लोकनाथ नहीं आया।" इस प्रकार इस सच्चे योगी की बातों को मजाक में लिया गया जब कि वे बार-बार अपने जाने की चेतावनी दे रहे थे। इस योगी ने वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों को समझ लिया था। १६ मार्च की प्रातः को लगभग ३-३५ बजे ब्रह्मरंध्र से अपने श्वास निकाले।



गौरव पूर्ण अन्त

१६ मार्च १९६७ को गौरव मंडित, सरल साधक, योगी, धर्मपरायण और निष्ठवान जीवन का अन्त हो गया—ऐसा जीवन जिसने अपने ऊपर कभी गर्व नहीं किया। वे ऐसे स्थितप्रज्ञ प्रबुद्ध मानव थे जिनसे प्राणी-मात्र का शिव हुआ, हो रहा है और होता रहेगा। कभी-कभी ही धरती पर ऐसा कोई आलोक पुरुष आता है जिससे दुनिया बदल जाती है। आर्य जगत् में ऋषि दयानन्द के पश्चात् गुरुदेव ऐसे ही आलोक पुंज थे। वे न जाने कितने युगों के सत्य तत्वों को मथ-मथ कर हमें दे गए। वे एक महामानव ही नहीं, मानवेन्द्र थे। वें तप से परे थे, सिद्धियों से आगे थे और कीर्तियों के केतु थे।

उनमें शक्ति थी—अनोखी शक्ति। उनके वरदानों



गुरुदेव चिरनिद्रा में

से मित्र ही नहीं अमित्र भी फले-फूले थे। उनके यज्ञ-मय कर्म युग-युग के अमृत फल हैं। उनका श्वास-श्वास अनंत रमणीय महादेव की परिक्रमा करता रहा। यज्ञ और प्रभुआश्रित, प्रभुआश्रित और यज्ञ एक दूसरे के पूरक बन गए। उन्होंने सहस्रों नर-नारियों को मुक्ति का मंत्र दिया, अमृतभरी ऋचाएं दीं, करुणा से भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी रचनात्मक कृतियां समस्त युगों की उज्ज्वल परंपराओं सी पुनीत हैं। गुरुदेव के व्यक्तित्व में समष्टि के वे सभी गुण मुखरित थे जिनसे सृष्टि का शिव होता है, युगों को चेतना मिलती है, सृजन के दीप जगमगाते हैं। ऐसे तेजपुंज के अस्त होने पर आकाश भी फूट-फूट कर रोया और सूर्य ने भी शर्म से मुँह छिपा लिया।

१५ मार्च की रात्रि को इस महान् योगी को लगभग आठ बजे उल्टी आई और वह बेहोश हो गया। उस समय किसी को क्या पता था कि यह मानवेन्द्र अब कभी आंख नहीं खोलेगा। आंख खोलता भी तो कैसे! मृत्यु इससे आंख कैसे मिलाती? मूर्च्छित करके ही तो उसने इसे हरा था। लगभग तीन बजे गुरुदेव ने ओ३म् की ध्वनि की और अपने प्राणों को ऊपर ब्रह्मरंध्र में चढ़ाया, तीन बार ओ३म् की ध्वनि को निकाला और

बिखरे हुए बालों से मालूम हुआ कि यह भास्कर अस्त होने जा रहा है। अपने जीवन काल में यह संत इसी समय ओ३म् की ध्वनि लगाता और समाधिस्थ हो जाता। १६ मार्च को भी उसी चिरपरिचित समय तीन बार ओ३म् की ध्वनि लगाई, समाधि लेने के लिए—एक महान् समाधि।

उस दिन उषा भी सहमी-सी जगी, सूरज भी बहका-बहका निकला और शर्म से बादलों की ओट में छिप गया। पानी का दिल—भी भर-भर आता था—। पत्थर-पत्थर रो रहा था। माथे पर शांति और भक्ति की रोली और अक्षत लगाए जब गुरुदेव ने अपनी नश्वर काया पर से 'चदरिया' उतार कर ज्यों की त्यों धर दी तो उनके विशाल परिवार में एक बारगी हाहाकर मच गया। सहसा किसी को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि यह भास्कर सचमुच ही अस्त हो गया है। परन्तु सच्चाई की अनुभूति के साथ जनता की आंखें उमड़ आईं और सहस्रधारा बन कर इस तेजपुंज के चरण-पखारने को आतुर हो उठीं।

कैसा अटपटा और बेतुका लगता है यह स्वर्गीय शब्द गुरुदेव के नाम के आगे लगाते! कैसी है यह विधि की विडंवना! अनुराग और स्नेह को असंख्यों व्यक्तियों

पर लुटाने वाले से ईश को भी स्पर्धा हुई और वह भी इसके स्नेह पाने के लिए तड़प उठा।

इस तेजपुंज के पंचभौतिक शरीर को वेद-मंदिर में एक बड़े तख्तपोश पर रखा गया, जिससे जनता अपने हृदय सम्राट् के दर्शन कर सके। पुष्प, धूप, अगरबत्तियों और यज्ञ से सुवासित वातावरण में गायत्री मंत्र तथा वेद का अखंड पाठ होता रहा। बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष रात भर सभी अपने आबदार मोती लुटाते रहे। सूर्य के समान चमकते हुए गेरुए वस्त्र में लिपटा गुरुदेव का शव जब गाड़ी पर रखा गया, तब एक बार ऐसा लगा जैसे शोक का तूफान सारे बंधनों को तोड़कर फूट पड़ेगा। वैदिक भक्ति साधन आश्रम के जिस द्वार से ये कई बार बाहर गए थे और कई बार वापिस आए थे, अबकी बार भी वे एक गाड़ी पर सवार होकर मुस्कराते हुए उसी द्वार से जा रहे थे—फिर कभी वापिस न आने के लिए। छाया की तरह साथ रहने वाले इन्द्रसेन जी अब भी गुरुदेव के शरीर पर चंवरी झुलाने के लिए तैयार खड़े थे, ताकि धूप न लगे। दादा गुरुदेव ने अपने

काँपते हाथों से इस महान् शिष्य को पुष्पांजलि अर्पित की। आश्रम से जब वह गाड़ी दयानन्दमठ की ओर सरकने लगी तब जनता की मानस-वेदना अश्रु रूप में फूट पड़ी और केमरे घूम गए जिसने जीवन भर कभी चित्र नहीं खिचाया था आज उसके चित्र खींचे जा रहे थे।

असंख्यों नर-नारी, बच्चे-बूढ़े, अपने हृदय सम्राट् का दर्शन करने के लिए पथ के दोनों ओर मौन भाव से खड़े थे। उस समय दर्शनार्थियों के मन की भी अद्भुत अवस्था दी। शव के सामने आने से पहले हृदय फटता-सा मालूम होता था परन्तु जैसे ही इस महामानव का उज्ज्वल चेहरा, मुंदी आँखें और मुस्कराते होंठ निकट आते थे हृदय का विषाद एक आलौकिक श्रद्धा में बदल जाता था और अपार-जन समुदाय में गुण-चर्चा प्रारंभ हो जाती थी। लोगों को ऐसा लगता था जैसे कलियुग में सतयुग का देवता उनके सामने है और उन्हें रोना नहीं बल्कि पूजा करनी है। इस भावना के मन में आते ही उसका मस्तक श्रद्धा से झुक जाता था और आँसू सूख जाते थे। इस महामानव को सुयश

की याद नहीं थी, वह तो उसके पीछे-पीछे आया था। कभी-कभी मानव की नीरवता कहती यह किसकी अर्थी जा रही है हजारों कंधों पर ! आसमान विरह के गीले गान कर कहता तुम्हें मालूम नहीं यह हजारों पुत्रों का पिता है ?" वह ऐसा मानव था जो दूसरों को चोट लगने पर तड़पता था। जिस मानवेन्द्र ने साधन, तपस्या भक्ति से जन-जन के अन्तर में बसी-हीन भावना के अंधकार को छिन्न-भिन्नकर भक्ति और ज्ञान का आलोक फैलाया था वह अश्रु नहीं, आराधना का अधिकारी था; वह सोचनीय नहीं, पूजनीय था ।

वेद, गायत्री और यज्ञ इनके जीवन की समस्त साधना थी । यही संपूर्ण साधना इनके शव के आगे आगे जा रही थी। चारों वेदों की ऋचाएं भी ऊहा-पोह में पड़ गई थीं कि वे अपने पुजारी के लिए क्या अर्पण करें—ऐसा पुजारी जो स्वयं पूजा बन गया था। अन्तिम समय भी गुरुदेव वेद और यज्ञ को अपने साथ-साथ लिए जा रहे थे। जब इनका पार्थिव शरीर आठ मन चंदन की चिता पर सजाया गया तब इन के साध्य यज्ञ

ने भी अग्नि के रूप में श्रद्धांजलि अर्पित की जिसको देख कर सूर्य ने भी लाज से मुंह छिपा लिया । वह इस तेजपुंज का सामना करने में असमर्थ था । आठ टीन घी और अगणित मेवा और सामग्री युक्त अग्नि की लपटें आकाश को छू रही थीं । गुरुदेव का पार्थिव शरीर जो अब तक हमारे सामने था—अग्नि की भेंट हो चुका था। इस प्रकार एक योगी, तपस्वी, सौम्यसंत के सेवा पूर्ण जीवन की भौतिक लीला समाप्त हो गई और स्वर्ग में फरिश्ते चौंक कर खड़े हो गए कि ये किस धरती का देवदूत आया है ?







गुरुदेव की अन्तिम यात्रा : हजारों शिष्य अपने हृदय सम्राट् को अन्तिम भाव-भीनी विदाई देते हुए



श्रद्धांजलियां



वे महान थे

महात्मा जी हमारे प्रमुख शिष्य थे और हमारे में उनकी अनन्य निष्ठा, भक्ति और श्रद्धा थी। वे गत १६ वर्षों से हमारे मिशन की पूर्ति कर रहे थे। उनकी निष्ठा और सेवा अद्वितीय थी वे परम वीतराग तपापूत और आत्मनिष्ठ थे। वे हजारों पतितों के परित्राता, आर्तों के आर्तहर्ता, धर्म के उद्धारक और सभ्यता तथा संस्कृति के सुधारक थे। वे भारत की पावन परंपरा के प्रतीक थे। उनके ब्रह्मलोक ही जाने से राष्ट्र की जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति होनी असंभव है।

वे विद्वान तथा ऊंचे दर्जे के लेखक थे। उनके ग्रन्थों के अध्ययन से हजारों पथ भ्रष्टों को सन्मार्ग से लाभ हुआ

है। और देश तथा जाति के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। जो धर्म विमुख थे वे धर्माभिमुख हो गए; जो पतित थे वे पावन बन गए। इनकी लेखनी में ओज था, शक्ति थी, प्रभाव था। इनकी भाषा मर्मस्पर्शी तथा प्रभावशाली थी।

उनका जीवन एक खुला ग्रन्थ था। शिष्यों के लिए आचार, व्यवहार, भक्ति, निष्ठा, श्रद्धा और तप का बृहद् कोष था। महात्मा जी को अपने शिष्यों को उपदेश देने की आवश्यकता न होती थी। वे इनके व्यवहार, आचरण और इनकी भगवदनिष्ठा, इनके तप, त्याग, ज्ञान, ध्यान तथा सादगी से मौन भाव से शिक्षा ग्रहण करते।

विनम्रता, संवेदना, सहानुभूति और सेवा महात्मा जी के जीवन की बहुत बड़ी विशेषताएं थीं। इनकी यज्ञ परायणता की इनके शिष्यों पर बहुत गहरी छाप है। इन्होंने गायत्री अनुष्ठान और आराधना का विशेष रूप से प्रचार और प्रसार किया है। इनके भक्तों के गृहों में यज्ञाग्नि गत बीस साल से प्रज्ज्वलित है। प्रभु सभी को उनके मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें।

स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती

योग निकेतन ऋषिकेश



बारी तो मेरी थी

महात्मा प्रभुआश्रित जी के जाने से जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति असंभव है। मैं उनसे तीन वर्ष बड़ा हूँ। बारी तो जाने की मेरी थी और चले वह गए। मैं यही बात भगवान से जाकर पूछूंगा कि यह तुम ने गलत काम कैसे किया। मैं किसी की मृत्यु पर नहीं रोया और आज आँसू हैं कि थमने का नाम नहीं लेते! भगवान हमें शक्ति प्रदान करें कि उनके बताए मार्ग पर चल सकें।

—महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती
दिल्ली।

महान् शिष्य

मेरा एक ऐसा शिष्य चला गया है जो वास्तव में महात्मा था।

—स्वामी कृष्णानन्द जी
रोहतक।



महात्मा प्रभु आश्रित जीः—

मधु मतीर्न इषस्कृति (य० ७।२)
हमारी अभिलाषाओं को मधुरीली कर ।।
भगवन् स्वस्ति ।

महात्मा प्रभु आश्रित जी के निधन की सूचना मिलते ही मेरे मुख से निम्न शेर निकला था:—

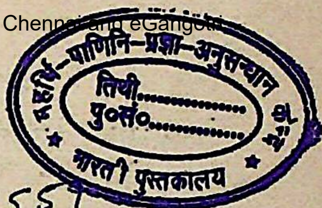
तुम गये और सब को जाना है ।
तुम सा लेकिन कहाँ से आना है ।

उनके स्थान की पूर्ति इस लिये असम्भव है कि अपनी गुरुता को लघुता के लिबास में छिपाकर रखने की क्षमता उनमें थी । संसार तो अपनी लघुता पर गुरुता का लिबास पहनता है ।

वह आदि से अन्त तक शिशुवत् मासूम, चन्द्रवत् चन्द्रित, पुष्पवत् आह्लादित, गंगानीरवत् निर्मल रहे । पतित पावन तो वह थे ही । असंख्य मलिन जीवनों और परिवारों को उन्होंने निर्मल बनाया है ।

उनके भक्तों के लिये मैं मंगलकामना करता हूँ ।

—विद्यानन्द विदेह



मार्च १६—जन्म-मरण का संगम

जब मैं तीन वर्ष की बच्ची थी तभी से गुरुदेव ने मेरी अंगुली पकड़ कर चलना सिखाया। यह विधि का अजब विधान है कि १६ मार्च मेरा जन्म दिवस है और उसी तारीख को गुरुदेव ने महाप्रयाण किया है। मेरे लिए तो सत्य ही स्वप्न बन गया है। भगवान मुझे शक्ति प्रदान करें कि मैं उनकी याद को अपनी सबसे बहुमूल्य हीरों की मंजूषा में संजो कर रख सकूं।

—राज बुद्धिराजा
ए. १४, डी० टी० यू० कालौनी,
शादीपुर, दिल्ली-८

महान दुर्भाग्य

थे दुर्भाग्य हमारे सहारे चले गए।
महा योगी प्रभु के प्यारे चले गए॥

जुदाई का यह दुःख सहा नहीं जाता।
आँसुओं की धारा बहा कर चले गए॥

दुनियाँ के धन्धों में हम रम रहे थे।
गायत्री महायज्ञ सिखा कर चले गए॥

बने सब के प्यारे किया प्रेम सबसे।
प्रेम की ही गंगा बहा कर चले गए॥

दुःखों के ही दर्दी सुखों के थे साथी।
हमें छोड़ मंझधार किनारे चले गए॥

सत्य के ही पथ पर हमको लगाया।
वेद अमृत का पढ़ना बता कर चले गए॥

नहीं कोई दर्दी जो धीरज बंधाए।
विरह की ही अग्नि जला कर चले गए॥

ढूंढ़ें कहाँ किस जगह आप को हम।
अपना बना मुख छिपा कर चले गए॥

आपकी याद पल-पल में हमको सतावे।
मुक्ति की आशा दिला कर चले गए॥

पिता कब मिलोगे कहां पर मिलोगे।
हृदय को सूना बना कर चले गए॥

सुगन्धित रहेगी यह जब है सृष्टि।
प्रभु भक्ति सिखा ब्रह्म द्वारे चले गए॥

शान्ति

३२—यू० बी० जवाहर नगर दिल्ली।



दयानन्द मठ की ओर

यह दयानन्द मठ की ओर चला शव किस महान स्वामी का ।
इधर भीड़ उधर भीड़ कुछ भी तो और नहीं दिखता ।
हर तरफ सागर लोगों का खाली छोर न मुझको दिखता ।
हा ! शोक चारों ओर, दर्द हर तरफ चल रहे लोग ।
किसी नयन का आज मुझे अनभीगा घोर नहीं दिखता ।
सिंधु आज उमड़ पड़ता नयनों के खारी पानी का ।
यह दयानन्द मठ की ओर चला शव किस महान स्वामी का ।
आर्यों की सांसें टूट गईं इस सौम्य संत के जाने से ।
दुख का भारी बोझ पड़ा और झुके सभी के माथ ।
दिखती है हर तरफ उदासी और दिशा प्यासी प्यासी ।
विधि ने हमको लूट लिया हुए खाली सब के हाथ ।
अन्तिम परिच्छेद समाप्त हुआ जीवन की अजब कहानी का ।
यह दयानन्द मठ की ओर चला शव किस महान स्वामी का ।
यह घटना कैसी घटी आज सबके होंठों का लुटा हास ।
चारों ओर फैला दे पतझर और लुटा उपवन का मधुमास ।
चारों ओर शून्य ही शून्य, अंतर ने झड़ी लगाई है ।
सौम्य सन्त ने मूंदी आँखें, लगा है आज लुटा इतिहास ।
सब दर्शन की इच्छा रखते, सूरत इस जानी पहचानी का ।
यह दयानन्द मठ की ओर चला शव किस महान स्वामी का ।

—राज बुद्धिराज।

याद

तुम नहीं हो पर तुम्हारी
याद मन में पल रही है।
कौन छीनेगा उसे जो
ज्योति उर में जल रही है।।
तुम जले ज्यों साधना में
आरती का दीप बनकर।
तुम खिले ज्यों उलस कर
कंटकों में फूल बन कर।।
उड़ गए तुम नीड तज कर
गूँजती स्वर लहरी तुम्हारी।
चेतना की यह पगडंडी
आज सिसक कर रो रही है।।

राज बुद्धिराजा


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी..........
पु०सं०..........
भारती पुस्तकालय

